ॐश्रीमद्भगवद्गीता

अध्याय १ : अर्जुनविषाद योग

धृतराष्ट्र उवाच
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किम् अकुर्वत संजय ॥१॥
हे सञ्जय ! धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में एकत्रित हुए, युद्ध की इच्छा वाले मेरे और पाण्डु के पुत्रों ने क्या किया ?

सञ्जय उवाच
दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्युढं दुर्योधनस् तदा ।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनम् अब्रवीत् ॥२॥
हे राजन ! उस समय राजा दुर्योधन ने पांडवो की व्यूह रचना युक्त सेना को देखकर गुरु द्रोणाचार्य के पास जाकर कहा -

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणाम् आचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥
हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार रची हुई पाण्डु पुत्रों की इस बड़ी भारी सेना को देखिये ॥ ३ ॥

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥
धृष्टकेतुश् चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥५॥
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥
इस सेना में -
शूरवीर सात्यकि ;
विराट एवं महारथी राजा द्रुपद, धृष्टकेतु, चेकितान ;
बलवान काशिराज, पुरुजित्, कुन्तिभोज ;
मुनष्योंमें श्रेष्ठ शैब्य ;
पराक्रमी युधामन्यु ;
बलवान उत्तमौजा ;

सुभद्रापुत्र अभिमन्यु ;
द्रौपदी के पाँचों पुत्र
- ये सभी महारथी हैं ।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदम् आह महीपते।
अर्जुन उवाच
सेनयोर् उभयोर् मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत ॥२१॥
यावद् एतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्। ।
कैर् मया सह योद्धव्यम् अस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥
योत्स्यमानान् अवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः ।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर् युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥
इसके बाद अर्जुन ने धृतराष्ट्र-सम्बन्धियोंको देखकर, शस्त्र चलने की तैयारी के समय धनुष उठा कर श्रीकृष्ण से यह वचन कहा - हे श्रीकृष्ण ! मेरे रथ को दोनों सेनाओं के बीचमें खड़ा कीजिये ॥
मैं युद्ध की इच्छा वाले इन विपक्षी योद्धाओं को अच्छे से देख लूँ, कि इस युद्ध में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है।
दुर्बुद्धि दुर्योधन का हित चाहने वाले जो ये राजा लोग इस सेनामें आये हैं, इन युद्ध करनेवालोंको मैं देखुँगा।

अर्जुन उवाच
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्य् अवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनम् आहवे ॥३१॥
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर् जीवितेन वा ॥३२॥
येषाम् अर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस् त्यक्तवा धनानि च ॥३३॥
युद्ध के अभिलाषी इस स्वजन समुदाय को देख कर मेरे अङ्ग शिथिल हुए जा रहे हैं, मुख सूख रहा है, शरीरमें कम्प व रोमाञ्च हो रहा है।
हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है, त्वचा भी बहुत जल रही है, मेरा मन भ्रमित हो रहा है । इसलिये मुझमें खड़ा रहने का भी समर्थ नहीं है।
मैं लक्षणों को भी विपरीत ही देख रहा हूँ , युद्धमें स्वजनों को मारकर कल्याण भी नहीं देखता मैं न तो विजय चाहता हूँ , न राज्य। हमें ऐसे राज्यसे क्या लाभ है?

हमें जिनके लिये राज्य, भोग और सुखादि की चाह है वे तो सब धन, जीवन की आशा को त्याग कर युद्ध में खड़े हैं।

एतान् न हन्तुम् इच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते ॥३५॥
हे मधुसूदन ! मुझे मारने पर भी , तीनों लोकों के राज्य के लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता। फिर पथ्वीके लिये तो कहना ही क्या है ?

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापाद् अस्मान् निवर्तितुम् ।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर् जनार्दन ॥३९॥
लोभ से भ्रष्ट हुए ये लोग कुल के नाश से उत्पन्न दोष को, मित्रों से विरोध करने में पाप को नहीं देखते। तो भी हे श्रीकृष्ण ! कुल के नाश से उत्पन्न दोष को जानने वाले हम लोगों को इस पाप से हटने के लिये क्यों नहीं विचार करना चाहिये ?

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नम् अधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥
अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः ।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्ण्येय जायते वर्णसङ्करः ॥४१॥
सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च ।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः ॥४२॥
दोषैर् एतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः ।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः ॥४३॥
उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन ।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥
अहो बत महत् पापं कर्तुं व्यवसिता वयम् ।
यद् राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनम् उद्यताः ॥४५॥
यदि माम् अप्रतीकारम् अशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस् तन् मे क्षेमतरं भवेत् ॥४६॥
कुल के नाश से सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाते हैं, धर्मके नाश हो जाने पर सम्पूर्ण कुल में पाप भी बहुत फैल जाता है।
पाप के अधिक बढ़ जानेसे कुल की स्त्रियाँ अत्यन्त दूषित हो जाती हैं । स्त्रियोंके दूषित हो जानेपर वर्ण सङ्कर उत्पन्न होता है।
वर्ण सङ्कर कुल को नरक में ले जाने के लिये ही होता है । लुप्त हुई पिण्ड (श्राद्ध) और जल (तर्पण) की क्रिया से वञ्चित इनके पित्र लोग भी अधोगति को प्राप्त होते हैं।

इन वर्णसङ्कर दोषों से कुल घातियों के सनातन कुल-धर्म और जाति-धर्म नष्ट हो जाते हैं।
हे जनार्दन ! जिनका कुल-धर्म नष्ट हो गया है, ऐसे मनुष्योंका अनिश्चित कालतक नरकमें वास होता है, ऐसा हम सुनते आये है।
हा ! हमलोग बुद्धिमान् होकर भी महान् पाप करनेको तैयार हो गये हैं, जो राज्य और सुखके लोभसे स्वजनों को मारनेके लिये उद्यत हो गये हैं ।
यदि मुझ शस्त्ररहित एवं सामना न करने वाले को शस्त्र हाथमें लिये हुए धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में मार डालें तो वह मारना भी मेरे लिये अधिक कल्याण कारक होगा।

सञ्जय उवाच

एवम् उक्त्वाऽर्जुनः सङ्ख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥

सञ्जय बोले-
रणभूमिमें शोक करने वाले अर्जुन इस प्रकार कह कर बाण सहित धनुष को त्याग कर रथ के पिछले भाग में बैठ गये।

अध्याय २ : साङ्ख्य योग

श्रीकृष्ण उवाच
कुतस्त्वा कश्मलम् इदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टम् अस्वर्ग्यम् अकीर्तिकरम् अर्जुन ॥२॥
हे अर्जुन! तुझे इस असमय में यह मोह कैसे हुआ ? क्योंकि न तो यह श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरित है, न स्वर्ग को देनेवाला है और न ही कीर्ति को करने वाला है।

अर्जुन उवाच
कथं भीष्मम् अहं सङ्ख्ये द्रोणं च मधुसूदन ।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हाव् अरिसूदन ॥४॥
गुरूनहत्वा हि महानुभावाञ्छ्रेयो भोक्तुं भक्ष्यम् अपीह लोके ।
हत्वार्थकामांस् तु गुरून् इहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ॥५॥
न चैतद् विद्मः कतरन् नो गरीयो यद् वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यान् एव हत्वा न जिजीविषामस् तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः ॥६॥
कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥७॥
अर्जुन बोले-
हे श्रीकृष्ण ! मैं युद्ध में किस प्रकार बाणों से भीष्मपितामह और द्रोणाचार्य के विरुद्ध लडँगा ? क्योंकि वे दोनों ही पूजनीय हैं।
इसलिये इन गुरुजनों को न मारकर मैं इस लोकमें भिक्षा का अन्न भी खाना कल्याण कारक समझता हूँ। क्योंकि गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में अर्थ और काम भोगों को ही तो भोगूँगा ।
हम यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये युद्ध करना और न करना - इन दोनों से कौन-सा श्रेष्ठ है।
यह भी नहीं जानते कि उन्हें हम जीतेंगे या नहीं । और जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही हमारे आत्मीय धृतराष्ट्रके पुत्र हमारे मुकाबलेमें खड़े हैं।
इसलिये कायरता रूप दोषसे, धर्मके विषयमें मोहित चित्त हुआ मै आपसे पूछता हुआ हूँ कि जो कार्य निश्चित कल्याणकारक हो, वह मेरे लिये कहिये। क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, मुझे शिक्षा दीजिये ।

श्रीकृष्ण उवाच

अशोच्यान् अन्वशोचस् त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।
गतासून् अगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः ॥११॥
न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयम् अतः परम् ॥१२॥

हे अर्जुन !
तू न शोक करने योग्य मनुष्योंके लिये शोक करता है । परन्तु जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं उन सभी के लिये पण्डित जन शोक नहीं करते न तो ऐसा ही है कि - मैं किसी कालमें नहीं था, तू नहीं था, ये राजा लोग नहीं थे और न ऐसा ही है कि - इससे आगे हम नहीं रहेंगे।

अविनाशि तु तद् विद्धि येन सर्वम् इदं ततम् ।
विनाशम् अव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुम् अर्हति ॥१७॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः ।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद् युध्यस्व भारत ॥१८॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥
न जायते म्रियते वा कदाचिन् नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥

नाशरहित तो तू उसको जान, जिससे यह सम्पूर्ण जगत व्याप्त है । इस अविनाशी का विनाश करने में कोई भी समर्थ नहीं है।
इस नाशरहित, विकाररहित, नित्यस्वरूप जीवात्माके ये सब शरीर नाशवान हैं । इसलिये हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर।
जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है या जो इसे मरा मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते। क्योंकि वास्तव में यह आत्मा न तो किसी को मारता है और न ही किसी के द्वारा मारा जाता है।
यह आत्मा किसी काल में न तो जन्मता है, न मरता है तथा न यह उत्पन्न होकर फिर होने वाला है। क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥२३॥
इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते, आग नहीं जला सकती, जल नहीं गला सकता, वायु नहीं सुखा सकती ।

अव्यक्तोऽयम् अचिन्त्योऽयम् अविकार्योऽयम् उच्यते ।
तस्माद् एवं विदित्वैनं नानुशोचितुम् अर्हसि ॥२५॥
यह आत्मा अव्यक्त, अचिन्त्य, विकार रहित है । इस आत्माको तत्व से जानकर तुझे शोक करना उचित नहीं है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत ।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥
सम्पूर्ण प्राणी जन्म से पहले अप्रकट थे, मरने के बाद भी अप्रकट हो जाने वाले हैं। केवल बीचमें ही प्रकट हैं, फिर ऐसी स्थिति में क्या शोक करना ?

देही नित्यम् अवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुम् अर्हसि ॥३०॥
यह आत्मा सबके शरीरों में सदा अवध्य (जिसका वध नहीं किया जा सकता) है। इस कारण प्राणियों के लिये शोक करना उचित नहीं है।

अथ चेत् त्वम् इमं धर्म्यं सङ्ग्रामं न करिष्यसि ।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापम् अवाप्स्यसि ॥३३॥
यदि तू इस धर्मयुक्त युद्ध को नहीं करेगा तो स्वधर्म और कीर्तिको खोकर पाप को प्राप्त होगा।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।
तस्माद् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापम् अवाप्स्यसि ॥३८॥
या तो तू युद्ध में - मारा जाकर स्वर्गलोक को प्राप्त होगा ,
या जीतकर पृथ्वीका राज्य भोगेगा । इसीलिए तू युद्धके लिये निश्चय करके खड़ा हो जा। जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःखको समान समझकर युद्ध के लिये तैयार हो जा। इस प्रकार युद्ध करने से तू पापको नहीं प्राप्त होगा।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्व् अकर्मणि ॥४७॥
तेरा कर्म करने में ही अधिकार है, उसके फलों में कभी नहीं । इसलिये तू कर्मो के फल में आसक्त मत हो और तेरी कर्म न करने में भी आसक्ति न हो।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥
तू आसक्ति को त्यागकर तथा सिद्धि, असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर योग में स्थित हुआ कर्तव्यकर्मों को कर। समत्व ही योग है।

अध्याय ४ : ज्ञानकर्म सन्न्यास योग

श्रीकृष्ण उवाच
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहम्अव्ययम् ।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुर् इक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥
हे अर्जुन !
मैंने इस अविनाशी योग को सूर्य से कहा, सूर्य ने अपने पुत्र वैवस्वत मनु से कहा, मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा ।

एवं परम्पराप्राप्तम् इमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥
इस प्रकार परम्परा से इस योग को राजर्षियों ने जाना, किन्तु उसके बाद वह योग बहुत काल से इस पृथ्वी लोक में लुप्त हो गया ।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतद् उत्तमम् ॥३॥
तू मेरा भक्त और प्रिय सखा है इसलिये वही यह अति पुरातन योग आज मैंने तुझे कहा है। यह गुप्त रखने योग्य सर्वोत्तम रहस्य है।

अर्जुन उवाच
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथम् एतद् विजानीयां त्वम् आदौ प्रोक्तवान् इति ॥४॥
हे कृष्ण ! आपका जन्म तो अभी का है और सूर्य का जन्म तो बहुत पुराना है, अर्थात कल्प के आदि में सूर्य का जन्म हो चुका था । तब मैं इस बात को कैसे समझूँ कि आप ही ने कल्प के आदि में सूर्य से यह योग कहा था ?

श्रीकृष्ण उवाच

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं । उन सबको तू नहीं जानता किन्तु मैं जानता हूँ ।

अजोऽपि सन्न् अव्ययात्मा भूतानाम् ईश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वाम् अधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया ॥६॥

मैं अजन्मा, अविनाशी, समस्त प्राणियों का ईश्वर होते हुए भी अपनी प्रकृति को अधीन करके, अपनी योग माया से प्रकट होता हूँ ।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर् भवति भारत ।
अभ्युत्थानम् अधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥

हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्म की वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात साकार रूप से लोगों के सम्मुख प्रकट होता हूँ ।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥८॥

साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिये, पाप कर्म करने वालों का विनाश करने के लिये और धर्म की अच्छी प्रकार से स्थापना करने के लिये मैं युग-युग में प्रकट हुआ करता हूँ ।

अध्याय ७ : ज्ञानविज्ञान योग

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिद् अस्ति धनञ्जय ।
मयि सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥
मैं ही समस्त कारणों का परम कारण हूँ।

{ न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः ॥१०.२॥
मेरी उत्पत्ति को न देवता जानते हैं, न ही महर्षि जानते हैं।
क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियों का भी आदि कारण हूं। }

अध्याय ७ : ज्ञानविज्ञान योग

श्रीकृष्ण उवाच
नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको माम् अजम् अव्ययम् ॥२५॥
मैं योग शक्ति से अप्रत्यक्ष रहता हूं, सबके समक्ष प्रत्यक्ष नहीं होता । इसलिए यह अज्ञानी जनसमुदाय मुझ जन्मरहित, अविनाशी, परमेश्वर को जन्मने-मरने वाला समझता है, अर्थात नहीं जानता।

वेदाहं समतीतानि वर्तमानानि चार्जुन ।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन ॥२६॥
पूर्व में व्यतीत हुए, वर्तमान में स्थित, भविष्य में होने वाले समस्त भूतों को मैं जानता हूं । परंतु वास्तव में मुझे कोई भी श्रृद्धा-भक्ति रहित पुरुष नहीं जानता ।

अध्याय ८ : अक्षरब्रह्म योग

श्रीकृष्ण उवाच
माम् उपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयम् अशाश्वतम् ।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥
पुरूष मुझे प्राप्त होकर दुखोंके घर एवं क्षणभङ्गुर संसार में पुनर्जन्म को नहीं प्राप्त होते।

आब्रह्मभुवनाल् लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन ।
माम् उपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥
मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता। ये सब ब्रह्मा आदि के लोक काल के द्वारा सीमित होने से अनित्य हैं। परंतु मैं महाकाल (अक्षय काल) हूँ।

सहस्रयुगपर्यन्तम् अहर् यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥
ब्रह्मा के एक दिन को 'एक हज़ार चतुर्युग की अवधि वाला', 'रात्रि को भी एक हज़ार चतुर्युग की अवधि वाली' जो पुरुष तत्वसे जानते हैं, वें ही काल को यथार्थ जानते हैं।

अव्यक्ताद् व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥१८॥
सम्पूर्ण चर- अचर भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकाल में अव्यक्त (ब्रह्मा का अति सूक्ष्म शरीर) से उत्पन्न होते हैं, ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकाल में उसी अव्यक्त में लीन हो जाते हैं ।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्य् अहरागमे ॥१९॥

हे पार्थ ! वही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो-होकर प्रकृति के वश में हुआ रात्रि के प्रवेशकाल में लीन होता है और दिनके प्रवेशकाल में फिर उत्पन्न होता है ।

परस् तस्मात् तु भावोऽन्यो ऽव्यक्तोऽव्यक्तात् सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥
उस अव्यक्त से भी अति परे दूसरा जो विलक्षण सनातन अव्यक्त भाव है, वह सब भूतोंके नष्ट होनेपर भी नष्ट नहीं होता ।

अव्यक्तोऽक्षर इत्य् उक्तस् तम् आहुः परमां गतिम् ।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥२१॥
जो अव्यक्त 'अक्षर' (क्षर-विनाशशील/आदि-अंत, अक्षर-अविनाशी/अनादि-अनंत) है, उसी को परमगति कहते हैं । जिसे प्राप्त होकर मनुष्य पुनर्जन्म को प्राप्त नहीं होता।

अध्याय ९ : राजविद्याराजगुह्य योग

श्रीकृष्ण उवाच
मया ततम् इदं सर्वं जगद् अव्यक्तमूर्तिना ।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्व् अवस्थितः ॥४॥
मेरे द्वारा, मेरे सत्य स्वरूप (अप्रत्यक्ष) में यह ब्रह्मांड फैला है। समस्त जीव मेरे अंतर्गत स्थित है, परंतु वास्तव में मैं उनमें स्थित नहीं हूँ।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।
भूतभृन् न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ॥५॥
वे सब भूत मुझमें स्थित नहीं हैं। किन्तु मेरी योग शक्ति को देख कि भूतों को उत्पन्न-धारण-पोषण करने वाला वास्तव में भूतों में स्थित नहीं है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम् ।
कल्पक्षये पुनस् तानि कल्पादौ विसृजाम्य् अहम् ॥७॥
हे अर्जुन ! कल्पों के अन्तमें सब भूत मेरी प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं और कल्पों के आदि में मैं उनको फिर रचता हूँ ।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय ।
उदासीनवद् आसीनम् असक्तं तेषु कर्मसु ॥९॥
हे अर्जुन ! उन कर्मों में 'आसक्तिरहित' और 'उदासीनके सदृश' स्थित मुझ परमात्मा को वे कर्म नहीं बाँधते ।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुम् आश्रितम् ।
परं भावम् अजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥

मूढ़ लोग मुझ परमेश्वर को तुच्छ समझते हैं। अपनी योगमाया से संसारके उद्धार के लिये मनुष्यरूप में विचरते हुए मुझ परमेश्वर को साधारण मनुष्य मानते हैं अर्थात जन्मने मरने वाला मानते हैं।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्य् अहम् ॥२२॥
यदि कोई अति दुराचारी भी अनन्य भावसे मेरा भक्त होकर मुझको भजता है तो वह साधु ही माननेयोग्य है।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः ।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्य् अहम् ॥२९॥
मैं सब भूतोंमें सम भावसे व्यापक हूँ, न कोई मेरा अप्रिय है, न प्रिय है। परन्तु जो भक्त मुझे प्रेम से स्मरते हैं, वे मुझमें हैं और मैं उनमें प्रत्यक्ष प्रकट हूँ।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥
स्त्री, वैश्य, शूद्र तथा पापयोनि - चाण्डाल आदि कोई भी हों, मेरे शरण होकर परमगति को ही प्राप्त होते हैं ।

किं पुनर् ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यम् असुखं लोकम् इमं प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥
फिर इसमें तो कहना ही क्या है, की पुण्यशील ब्राह्मण, राजर्षि भक्तजन मेरी शरण होकर परम गति को प्राप्त होते हैं । इसलिये तू सुखरहित और क्षणभङ्गुर(जो विनाशशील है) इस मनुष्य शरीरको प्राप्त होकर निरन्तर मेरा स्मरण कर।

अध्याय १० : विभूति योग

श्रीकृष्ण उवाच
यो माम् अजम् अनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असम्मूढः स मत् र्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥३॥
जो पुरुष मुझे अजन्मा, अनादि-अनंत, समस्त भूतों का ईश्वर तत्त्व से जानता है, वही यथार्थ जानता है।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस् तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥
सात महर्षि (सप्त ऋषि) ;
चार उनसे भी पूर्व में होनेवाले सनक आदि ;
स्वायम्भुव आदि चौदह मनु ;
- मेरे संकल्प मात्र से उत्पन्न हुए हैं, जिनकी सृष्टी में सम्पूर्ण प्रजा है।

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्य् आत्मविभूतयः ।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्य् अन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥
अब मैं जो मेरी दिव्य विभूतियाँ हैं, उनको तेरे लिये कहूँगा । मेरे विस्तारका अन्त नहीं है।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥
मैं -
समस्त भूतोंके हृदयमें स्थित आत्मा हूँ ;

सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य, अंत हूँ ;

आदित्यानाम् अहं विष्णुर् ज्योतिषां रविर् अंशुमान् ।
मरीचिर् मरुताम् अस्मि नक्षत्राणाम् अहं शशी ॥२१॥
अदिति के बारह पुत्रों में विष्णु ;
ज्योतियों में सूर्य ;
उनचास वायुदेवताओं का तेज ;
नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा ;

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानाम् अस्मि वायवः ।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानाम् अस्मि चेतना ॥२२॥
वेदों में सामवेद ;
देवों में इन्द्र ;
इन्द्रियों में मन ;
भूतप्राणियों की चेतना ;

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम् ।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणाम् अहम् ॥२३॥
एकादश रुद्रों में शङ्कर ;
यक्ष, राक्षसों में कुबेर ;
मैं आठ वसुओं में अग्नि ;
शिखर वाले पर्वतों में सुमेरु ;

पुरोधसां च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम् ।
सेनानीनाम् अहं स्कन्दः सरसाम् अस्मि सागरः ॥२४॥
पूरोहितों में मुखिया बृहस्पति ;
सेनापतियों में स्कन्द ;
जलाशयों में माहसागर ;

महर्षीणां भृगुर् अहं गिराम् अस्म्य् एकम् अक्षरम् ।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥
महर्षियों में भृगु ;
शब्दों में परम् अक्षर (ॐ) ;
यज्ञों में जपयज्ञ ;

स्थिर में रहनेवालों में हिमालय ;

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः ।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः ॥२६॥
वृक्षों में पीपल का वृक्ष ;
देवर्षियों में नारद मुनि ;
गन्धर्वों में चित्ररथ ;
सिद्धोंमें कपिल मुनि ;

उच्चैःश्रवसम् अश्वानां विद्धि माम् अमृतोद्भवम् ।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥
अश्वों में उचैःश्रवाः (समुद्र मंथन के दौरान उत्पन्न अश्व) ;
गजों में ऐरावत गज ;
मनुष्यों में राजा ;

आयुधानाम् अहं वज्रं धेनूनाम् अस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणाम् अस्मि वासुकिः ॥२८॥
शस्त्रों में वज्र ;
गौओँ में कामधेनु ;
शास्त्रोक्त रीतिसे सन्तान की उत्पत्ति का हेतु कामदेव ;
सर्पों में सर्पराज वासुकि ;

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसाम् अहम् ।
पितॄणाम् अर्यमा चास्मि यमः संयमताम् अहम् ॥२९॥
नागों में शेषनाग ;
जलचरों का अधिपति देव वरुण ;
पितरों में अर्यमा पितर ;
शासन करनेवालों में यमराज ;

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयताम् अहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥
दैत्यों में प्रह्लाद ;
गणना करनेवालों का समय ;
पशुओं में मृगराज सिंह ;

पक्षियों में गरुड़ ;

पवनः पवताम् अस्मि रामः शस्त्रभृताम् अहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसाम् अस्मि जाह्नवी ॥३१॥
पवित्र करनेवालों में वायु ;
शस्त्रधारियों में श्रीराम ;
मछलियोंमें मगर ;
नदियोंमें श्रीभागीरथी गङ्गाजी ;

सर्गाणाम् आदिर् अन्तश्च मध्यं चैवाहम् अर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदताम् अहम् ॥३२॥
सृष्टियों * का आदि, मध्य और अंत ;
विद्याओं में अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) ;
परस्पर विवाद करनेवालों का वाद ;

अक्षराणाम् अकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः ॥३३॥
अक्षरों में अकार ;
समासों में द्वन्द्व नामक समास ;
अक्षय काल अर्थात काल का भी महाकाल ;
सब ओर मुखवाला, विराट्स्वरूप, उत्पत्ति-धारण-पोषण करनेवाला ;

मृत्युः सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्तिः श्रीर्वाक्च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥
सबका नाश करनेवाला मृत्यु ;
उत्पन्न होनेवालों का उत्पत्ति हेतु ;
स्त्रियों में कीर्ति श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसाम् अहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥
श्रुतियों में बृहत्साम ;
छन्दों में गायत्री छन्द ;
महीनों में मार्गशीर्ष ;
ऋतुओं में वसन्त ;

द्यूतं छलयताम् अस्मि तेजस् तेजस्विनाम् अहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववताम् अहम् ॥३६॥
छल करनेवालों में जूआ ;
प्रभावशाली पुरुषोंका प्रभाव ;
जीतनेवालों का विजय ;
निश्चय करनेवालों का निश्चय ;
सात्त्विक पुरुषोंका सात्त्विक भाव ;

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः ।
मुनीनाम् अप्य् अहं व्यासः कवीनामुशना कविः ॥३७॥
वृष्णिवंशियों में वासुदेव (अर्थात् मैं स्वयं तेरा सखा) ;
पाण्डवों में धनञ्जय अर्थात् तू ;
मुनियों में वेदव्यास ;
कवियों में शुक्राचार्य कवि ;

दण्डो दमयताम् अस्मि नीतिर् अस्मि जिगीषताम् ।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवताम् अहम् ॥३८॥
दमन करनेवालों का दण्ड ;
जीतने की इच्छावालों की नीति ;
गुप्त रखनेयोग्य भावों का रक्षक मौन ;
ज्ञानवानों का तत्व ज्ञान ;
और समस्त भूतों की उत्पति का कारण भी मैं ही हूँ।

यच् चापि सर्वभूतानां बीजं तद् अहम्अर्जुन ।
न तद् अस्ति विना यत् स्यान् मया भूतं चराचरम् ॥३९॥
नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप ।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥
- क्योंकि ऐसा चर, अचर कोई भी भूत नहीं, जो मुझ से रहित हो।
मेरी दिव्य विभूतियां अनंत है।

यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमद् ऊर्जितम् एव वा ।
तत् तद् एवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥४१॥

जो-जो भी विभूतियुक्त, ऐश्वर्ययुक्त, कान्तियुक्त, शक्तियुक्त वस्तु है, उस-उस को तू मेरे तेज के अंश की ही अभिव्यक्ति जान।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहम् इदं कृत्स्नम् एकांशेन स्थितो जगत् ॥४२॥
हे अर्जुन ! इस बहुत जानने से तेरा क्या प्रयोजन है । मैं इस सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को अपनी योग शक्ति के एक अंश मात्र से धारण करके स्थित हूँ।

अध्याय ११ : विश्वरूपदर्शन योग

श्रीकृष्ण उवाच
कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुम् इह प्रवृत्तः ।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥
मैं लोकों का नाश करने वाला महाकाल हूँ ।
इस समय इन लोकों को नष्ट करनेके लिये प्रवृत्त हुआ हूँ ।
इसलिये जो प्रतिपक्षियों की सेनामें स्थित योद्धा लोग हैं, तेरे युद्ध न करने पर भी उनका नाश हो जायगा ।

अध्याय १३ : क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभाग योग

श्रीकृष्ण उवाच
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तम् इव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज् ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
वह परमेश्वर-
'विभागरहित एकरूप, ब्रह्माण्ड में समभाव से परिपूर्ण' होने पर भी
चर अचर समस्त भूतों में विभक्त(अलग) प्रतीत होता है।
वह परमेश्वर -
ब्रह्मा रूप से भूतों को उत्पन्न करनेवाला ;
विष्णु रूप से भूतों का धारण-पोषण करने वाला ;
रुद्र रूप से समस्त ब्रह्माण्ड का सङ्हार करने वाला है।

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभाव् अपि ।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ॥१९॥
प्रकृति * और पुरुष अनादि है ।
त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थ * प्रकृति से ही उत्पन्न है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्व् अविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥
नष्ट होते हुए समस्त चर-अचर भूतोंमें जो पुरुष परमेश्वर को वास्तव में नाशरहित देखता है,
वही यथार्थ देखता है।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितम् ईश्वरम् ।
न हिनस्त्य् आत्मनात्मानं ततो याति परां गतिम् ॥२८॥
जो पुरुष समभाव से स्थित परमेश्वर को समान देखता हुआ अपने द्वारा अपने को नष्ट नहीं करता। वह परम गतिको प्राप्त होता है।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति ॥२९॥
जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मों को सब प्रकार से प्रकृति के द्वारा ही किये जाते हुए देखता है और आत्मा को अ-कर्ता देखता है। वही यथार्थ देखता है।

यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥३०॥
जिस क्षण यह पुरुष -
भूतों के अलग-अलग भावों को एक परमात्मा में ही स्थित देखता है ;
उस परमात्मासे ही सम्पूर्ण भूतों का विस्तार देखता है,
उसी क्षण वह अविनाशी ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।

अनादित्वान् निर्गुणत्वात् परमात्मायम् अव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥
निर्गुण होने से परमात्मा शरीर में स्थित होनेपर भी वास्तवमें न तो कुछ करता है और न ही लिप्त होता है।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्याद् आकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
जिस प्रकार सर्वत्र व्याप्त आकाश सूक्ष्म होने के कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही देह में सर्वत्र स्थित आत्मा निर्गुण होनेके कारण देह के गुणों से लिप्त नहीं होता ।

अध्याय १५ : पुरुषोत्तम योग

श्रीकृष्ण उवाच
ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम् अश्वत्थं प्राहुर् अव्ययम् ।
छन्दांसि यस्य पर्णानि, यस् तं वेद स वेदवित् ॥१॥
अविनाशी सम्साररूपी वृक्ष , जिसका -
मूल परमेश्वर है ;
मुख्य शाखा ब्रह्मा है ;
पत्ते वेद है ।
उस सम्साररूपी वृक्ष को जो पुरुष तत्व से जानता है, वही वेदों के तात्पर्य को जानता है।

न रूपम् अस्येह तथोपलभ्यतेनान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा ।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमृलम् असङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
इस सम्सारवृक्ष का स्वरूप जैसा कहा-सुना जाता है; आत्मज्ञान हो जाने पर वैसा नहीं पाया जाता। क्योंकि न तो इसका आदि है और न ही अन्त है। इसकी अच्छी प्रकार से स्थिति भी नहीं है । इसलिये इस अहङ्कार, ममता, वासना रूपी अति दृढ़ जड़ों वाले संसाररूप पीपलके वृक्षको दृढ़ वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा काटकर -

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः ।
तम् एव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

उस परमेश्वर को खोजना चाहिये। जिसे प्राप्त हुए पुरुष फिर लौटकर संसारमें नहीं आते। जिस परमेश्वर से इस पुरातन संसारवृक्ष विस्तार को प्राप्त हुआ है। उस परमेश्वर का नित्य मनन, ध्यान करना चाहिये ।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर् विमुक्ताः सुखदुःखसञ्ज्ञैर् गच्छन्त्य् अमूढाः पदम् अव्ययं तत् ॥५॥
जिसका मान और मोह नष्ट हो गया है ;
जिसने आसक्तिरूप दोषको जीत लिया है ;
जिसकी परमात्मा के स्वरूपमें नित्य स्थिति है ;
जिनकी कामनाएँ पूर्णरूप से नष्ट हो गयी हैं - वे सुख-दुःख नामक द्वन्द्वोंसे विमुक्त ज्ञानीजन उस अविनाशी परमपद को प्राप्त होते हैं।

न तद् भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम ॥६॥
जिस परमपद को प्राप्त होकर मनुष्य लौटकर संसार में नहीं आते, उस स्वयं प्रकाश परमपदको न सूर्य प्रकाशित कर सकता है, न चन्द्रमा और न ही अग्नि, वही मेरा परमधाम है।

अध्याय १८ : मोक्षसन्न्यास योग

श्रीकृष्ण उवाच
यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे ।
मिथ्यैष व्यवसायस् ते प्रकृतिस् त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥
जो तू अहङ्कार में यह मान रहा है कि मैं युद्ध नहीं करूँगा तो तेरा यह निश्चय मिथ्या है; क्योंकि तेरा स्वभाव तुझे युद्ध में लगा ही देगा ।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा ।
कर्तुं नेच्छसि यन् मोहात् करिष्यस्य् अवशोऽपि तत् ॥६०॥
जिस कर्म को तू मोह के कारण करना नहीं चाहता, उसको भी अपने पूर्वकृत स्वाभाविक कर्म (सम्स्कार) से बँधा हुआ अवश्य ही करेगा।

तम् एव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥
हे भारत ! तू सब प्रकार से परमेश्वर की ही शरणमें जा । परमेश्वर की कृपा से तू परम शान्ति को, सनातन परमधाम को प्राप्त होगा ।

इति ते ज्ञानम् आख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया ।

विमृश्यैतद् अशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥
यह अति गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कहा । अब तू इस रहस्ययुक्त ज्ञानको पूर्णतया भलीभाँति विचारकर, जैसे चाहता है वैसे ही कर ।

इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
तुझे यह गीतारूप रहस्यमय उपदेश -
तपरहित पुरुष से ;
श्रद्धारहित से ;
बिना सुनने की इच्छावाले से ;
परमेश्वर में दोषदृष्टि वाले से ;
किसी भी काल में नहीं कहना चाहिये।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा ।
कच्चिद् अज्ञानसंमोहः प्रनष्टस् ते धनञ्जय ॥७२॥
हे अर्जुन ! क्या मेरे वचनों को तूने एकाग्र चित्त से सुना? क्या तेरा अज्ञान जनित मोह नष्ट हो गया ?

अर्जुन उवाच
नष्टो मोहः स्मृतिर् लब्धा त्वत्प्रसादान् मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥
हे श्रीकृष्ण ! आपकी कृपासे -
मेरा मोह नष्ट हो गया है ;
मैंने स्मृति प्राप्त कर ली है ;
अब मैं संशयरहित, स्थिर हूँ, अतः आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।

सञ्जय उवाच
इत्य् अहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादम् इमम् अश्रौषम् अद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥
सञ्जय बोले -
हे राजन ! इस प्रकार मैंने श्रीकृष्ण और अर्जुन के रहस्ययुक्त, रोमाञ्चकारक संवाद को सुना ।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवान् एतद् गुह्यम् अहं परम् ।
योगं योगेश्वरात् कृष्णात् साक्षात् कथयतः स्वयम् ॥७५॥
श्री व्यास जी की कृपा से दिव्य दृष्टि पाकर मैंने इस परम गोपनीय योगको अर्जुन के प्रति कहते हुए स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण से प्रत्यक्ष सुना है ।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादम् इमम् अद्भुतम् ।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर् मुहुः ॥७६॥
श्रीकृष्ण और अर्जुन के इस रहस्ययुक्त, कल्याणकारक, अद्भुत संवादको पुनः पुनः स्मरण करके मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

तच् च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपम् अत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥
श्रीकृष्ण के उस अत्यन्त विलक्षण रूपको पुनः-पुनः स्मरण करके मेरे चित्त में महान आश्चर्य होता है और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ।

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥७८॥
जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं और जहाँ गाण्डीव-धनुषधारी अर्जुन हैं, वहीं पर श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है। ऐसा मेरा मत है ।

ॐ श्री परमात्मने नमः